व्यवस्था केन्द्रित शोषण के खिलाफ विद्रोह की धधकती आग: 'एनकाउंटर'

प्रा. किशोरी सुरेश टोणपे
दत्ताजीराव कदम आर्टस,सायन्स एण्ड कॉमर्स
कॉलेज, इचलकरंजी
मो. ९५०३२७५१८७
ईमेल-kishoristonape@gmail.com

सारांश:

आदिवासी सदियों से 'बराबरी, भाईचारा और आजादी' को अपने जीवन जीते आया है. यह सूत्र उसकी जीवनशैली का एक आवश्यक हिस्सा है. वह सामूहिकता में जीता है, उसकी अपनी संस्कृति है- भाषाएं हैं. वह प्राकृतिक संसधानों- जल-जंगलों का मालिक रहा है जो आज उससे छीने जा रहे हैं. प्रकृति ही उसके जीवन-यापन का साधन रही है. दूसरे लोगों ने भी आदिवासियों के नाम पार साहित्य सृजन किया लेकिन उनकी नजर में आदिवासी एक जंगली, असभ्य इकाई और आदिवासी औरत मात्र एक सेक्स सिम्बल ही रही है. उसके लिए आदिवासी नृत्य व गान एक तमाशा ही बने रहे, जिसे वे हर वर्ष २६ जनवरी को देखते हैं और भूल जाते हैं.''[१] रमणिका गुप्ता द्वारा कही गई बाते बहुत महत्वपूर्ण है. आज आदिवासी समाज के संदर्भ में जो कुछ लिखा जा रहा है उसमें आदिवासी औरतों का मांसलता से चित्रण हुआ है. इसका महत्वपूर्ण उदाहरण है, मराठी में लिखी हुई 'पाणी कसं असत' नामक कविता. जो मुंबई विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम में रखी गई थी. गैर आदिवासी लेखक आदिवासी समुदाय पर मात्र सहानुभुति से लिखते आ रहे है. उसमें आदिवासी अस्मिता की तलाश का प्रयास नहीं हो रहा है. आदिवासियों के मुक्ति का संघर्ष कहां है? सभ्य भारतीय समाज में उनका स्थान कहां पर है? आदि सवालों से यह साहित्य मुठभेड नहीं करता दिखायी देता है.

बीज शब्द : आदिवासी, व्यवस्था, विद्रोह

आजादी के बाद केंद्र में आये अस्मितावादी विमर्शों में दलित विमर्श एवं स्त्री विमर्श के बाद सबसे महत्वपूर्ण विमर्श का नाम आदिवासी विमर्श है. अब आदिवासी चेतना से युक्त आदिवासी साहित्य हिंदी साहित्य पटल पर अपनी उपस्थिति दर्ज करा चुका है. अब आदिवासी साहित्य हिंदी के अलावा लगभग १०० से भी अधिक आदिवासी भाषाओं में प्रचुर मात्रा में लिखा जा रहा है. अनेक दशकों के संघर्ष और प्रतिरोध के बाद आज आदिवासी साहित्य को स्वायत्त विषय के रूप में केंद्रीय परिधि में लाया जा रहा है. आदिवासी समाज एवं साहित्य पर लगातार पर चर्चा की जा रही है. परंतू आदिवासी समाज की तरह आदिवासी साहित्य का संघर्ष आज भी जारी है. आज भी आदिवासी साहित्य अनेक समस्याओं एवं चुनौतियों से जूझ रहा है. इसका प्रमुख कारण आदिवासी समाज जीवन से बाहरी समाज का अपरिचय और उपेक्षापूर्ण रवैया है. आदिवासी समाज से संवाद करने का आदिवासी साहित्य महत्त्वपूर्ण जरिया हो सकता है. पर शर्त यह हैं की उसका सही मूल्यांकन करने के लिए इसके बुनियादी तत्वों की समझ होना अनिवार्य है. आदिवासी साहित्य की उचित धारणाएँ एवं मापदण्ड स्थापित हो जाना जरुरी हैं. इक्कीसवीं सदी विमर्शों की है. इस सदी के सबसे महत्वपूर्ण विमर्श का नाम है, आदिवासी विमर्श. आदिवासी विमर्श के द्वारा सदियों से सभ्य माने जानेवाले समाज के द्वारा हाशिये पर रखे गये समाज की वकालत की गयी है. आदिवासी विमर्श ने आदिवासी समाज के अधिकारों की वकालत की साथ ही साहित्य के द्वारा अपने अस्मिता की तलाश करने का महत्वपूर्ण जिद्दोजेहद की. आदिवासी समाज और साहित्य के बीच एक अनोखा रिश्ता है. सभ्य समाज की धारा से वंचित इस समाज का साहित्य के साथ नाभि-नाल का रिश्ता है. इसी रिश्ते को स्पष्ट करते हुए रमणिका गुप्ता लिखती हैं, ''आदिवासी समाज और साहित्य में नाभि-नाल का रिश्ता है. दोनों एक दूसरे से अभिन्न हैं. आदिवासी साहित्य जानने से पहले, जितना आदिवासी समाज को समझना जरुरी है, उतना ही जरुरी है आदिवासी समाज को समझने के लिए उनके वाचिक साहित्य को जानना. आदिवासी समाज क्या है, उसके मूल्य क्या हैं, यह उनके लोकगीतों, नृत्यों, लोक-कथाओं, शौर्य- गाथाओं व लिजिंद्रियों में भरा पडा है. उनकी निश्छल सामूहिक जीवनशैली और उत्सवधर्मिता में ऐसा क्या है, जो कठिन परीस्थितियों में भी वे गाते, नाचते हुए जिंदा रहते रहे, कभी हारे नहीं. यह भी एक शोध का विषय है. विश्व में फ्रांस की क्रांति ने नारा दिया था 'समानता, भाईचारा और आजादी'. भारत में डॉ. आंबेडकर ने दलितों को मुक्ति के लिए बराबरी, भाईचारा और आजादी का सूत्र थमाया था.

लेकिन आदिवासी सदियों से 'बराबरी, भाईचारा और आजादी' को अपने जीवन जीते आया है. यह सूत्र उसकी जीवनशैली का एक आवश्यक हिस्सा है. वह सामूहिकता में जीता है, उसकी अपनी संस्कृति है- भाषाएं हैं. वह प्राकृतिक संसधानों- जल-जंगलों का मालिक रहा है जो आज उससे छीने जा रहे हैं. प्रकृति ही उसके जीवन-यापन का साधन रही है. दूसरे लोगों ने भी आदिवासियों के नाम पार साहित्य सृजन किया लेकिन उनकी नजर में आदिवासी एक जंगली, असभ्य इकाई और आदिवासी औरत मात्र एक सेक्स सिम्बल ही रही है. उसके लिए आदिवासी नृत्य व गान एक तमाशा ही बने रहे, जिसे वे हर वर्ष २६ जनवरी को देखते हैं और भूल जाते हैं.''[१] रमणिका गुप्ता द्वारा कही गई बाते बहुत महत्वपूर्ण है. आज आदिवासी समाज के संदर्भ में जो कुछ लिखा जा रहा है उसमें आदिवासी औरतों का मांसलता से चित्रण हुआ है. इसका महत्वपूर्ण उदाहरण है, मराठी में लिखी हुई 'पाणी कसं असत' नामक कविता. जो मुंबई विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम में रखी गई थी. गैर आदिवासी लेखक

आदिवासी समुदाय पर मात्र सहानुभुति से लिखते आ रहे है. उसमें आदिवासी अस्मिता की तलाश का प्रयास नहीं हो रहा है. आदिवासियों के मुक्ति का संघर्ष कहां है? सभ्य भारतीय समाज में उनका स्थान कहां पर है? आदि सवालों से यह साहित्य मुठभेड नहीं करता दिखायी देता है.

आदिवासी विमर्श के मूल में जल,जंगल और जमीन की लड़ाई है. उसी जंगल से आदिवासियों को आज निष्कासित किया जा रहा है. जिसपर आदिवासी जीवन टिका हुआ है, जंगल उसके सहजीविता का प्रमुख साधन है. व्यवस्था द्वारा आदिवासियों की वही सहजीविता छिनकर उसे बेदखल करने बात को लेकर आदिवासी लेखकों ने लेखनी चलायी है. उसका जीता-जागता रूप अरुण यादव रचित कहानी 'एनकाउंटर 'है.

इस 'एनकाउंटर' कहानी की कथावस्तु झूलनपार गांव, के जंगल, फॉरेस्ट का गार्ड भुवन और राजाराम धुर्वे की कथा है. कहानी में आदिवासी जीवन के बहुतरे चित्र अंकित हुए हैं. राजाराम धुर्वे की परिवार की अभावग्रस्थता इसका केंद्र बिंदु है. धुर्वे का परिवार जंगल की लकड़ी, फल, जड़ी-बूटियां आदि बेचकर अपना गुजारा करता था. साथ में बकरियों को भी उन्होंने पाला था. आदिवासी जनता अपनी रोजमर्रा की जरूरत है जंगल द्वारा ही पूरी करती है. लेकिन अब सरकार द्वारा चलाए गए षड्यंत्र से जंगल से आदिवासी लोगों के अधिकार छीन लिए गए. जंगलों से आदिवासियों को निष्कासित किया गया. जंगलों की रखवाली करने के लिए फॉरेस्ट गार्ड नियुक्त कर दिए. फॉरेस्ट गार्ड की मनमानी से आदिवासियों का जीना हराम कर दिया. फॉरेस्ट गार्ड आदिवासियों द्वारा इकट्ठा की गई लकड़ी, जड़ी-बूटियां आदि का आधा हिस्सा लेने लगे. ऊपर से उनके इस काम का काम को गैरकानूनी कहने लगे. प्रस्तुत कहानी का पात्र कोदूलाल कहता है- 'यह हरामखोर भुवन, फॉरेस्ट गार्ड है या चोर उचक्का. जितनी जंगल से इकट्ठा करो साला आधी तो वही रख लेता है. कहता है अब जंगल सरकार के हो गए हैं. जंगल से लकड़ी या कोई भी वनोपज ले जाना गैरकानूनी है.'[२]

शहर तो कभी आदिवासियों के थे ही नहीं, बस जंगल है जो आदिवासियों की सारी दीनता के साथ उन्हें स्वीकार करता है. अब उस पर भी इन लोगों की नजर पड़ गई है. इस स्थिति में आदिवासी क्या करेंगे? इस स्थिति में आदिवासी कैसे जीयेगा? यहीं से उसका व्यवस्था से संघर्ष शुरू हो जाता है.

प्रस्तुत कहानी में आदिवासियों के शोषण का जो चित्र अंकित किया है वह सब जगहों पर दिखाई देता है. इंस्पेक्शन के लिए आए वन मंडल अधिकारी कपूर साहब के खाने-पीने की व्यवस्था के लिए फ़ॉरेस्ट गार्ड भुवन राजाराम धुर्वे से एक-दो मुर्गी मांगता है. मुर्गियाँ न होने के कारण भुवन दुध मुँह मेमनों को जबरदस्ती गाड़ी में डाल देता है. जिन मेमनों को धुर्वे परिवार ने अपने बच्चों की तरह पाला है और जिनके साथ कोदूलाल के बच्चे हिले-मिले थे. उन मेमनों को भुवन का हुकूमत के बल पर ले जाना कितना पीड़ादायक होगा इसका दुख एक पशुपालक परिवार ही अनुभूत कर सकता है. यह सब होने पर भी यह परिवार किसी भी प्रकार का विद्रोह नहीं करता है. व्यवस्था की दहशत इस समाज में इस तरफ फैली है कि उसका प्रतिकार करना बेकार सा हो गया है. इन लोगों की नजर में आदिवासी स्त्री एक वस्तु है और उसको भोगने से कोई उनका बिगाड़ नहीं सकता. इसका एक सशक्त उदाहरण कोदूलाल की पत्नी बिंदिया है. राजाराम धुर्वे के सामने बिंदिया की तरफ भुवन द्वारा भद्दी मुस्कुराहट के साथ अनाप-शनाप बोलना इसका प्रमाण है. मेमनों को भुवन द्वारा जीप में डाल देने पर मेमनों का मिमियाना सुनकर बिंदिया घूंघट डाले हुए बाहर आ गई. इसके बाद भुवन के क्रियाकलापों को कहानीकार इस प्रकार चित्रित करता है- 'भुवन ने बिंदिया को देखा तो उसकी नजर ठहर गई. बिंदिया को देख उसके चेहरे पर एक भद्दी मुस्कुराहट उतर आई- "यह आदिवासी भी अपने झोपड़ों में कितनी खजाना छुपाए रखते हैं" वह मन ही मन गुदगुदाया. उसने बड़े ही अश्लील तरीके से अपने सूखे होठों पर जिहवा फिराई. वासना के लक्षणों को छुपाने का उसने कोई प्रयत्न नहीं किया."[३] इस प्रसंग को पढ़कर मनुष्य के अंदर स्थित पाश्विक वृत्ति सामने आती हैं. जिसके कारण एक आदिवासी को बाघ शेर से डर नहीं लगता, उसे डर मनुष्यों के अंदर स्थित पशुता का डर लगता है. इस परिप्रेक्ष्य में विनोद कुमार शुक्ल की लिखते हैं-

'एक अकेली आदिवासी लड़की को
घने जंगल जाते हुए डर नहीं लगता
बाघ-शेर से डर नहीं लगता
पर महुआ लेकर गीदम के बाजार जाने से डर लगता है.'[४]
-'जंगल के दिन भर के सन्नाटे में'

प्रस्तुत कहानी इस घटना के बाद नाटकीय मोड़ लेती है. मेमनों को लेकर जाने के फॉरेस्ट गार्ड की हत्या हो जाती है. इस हत्या के जुर्म में गांव के पन्द्रह लोगों को पुलिस पूछताछ के लिए थाने में लेकर जाती है. समूचे गांव की तलाशी और पन्द्रह लोगों को गिरफ्तार करने से पुलिस के हाथ कुछ भी नहीं आता है. राजधानी से पुलिस पर तुरंत कार्रवाई का जबर्दस्त दबाव होने के कारण उसमें से आधे लोगों को छोड़ देते हैं और पांच लोगों को पूछताछ के लिए थाने में बंद कर देते हैं. उसमें कोदूलाल और दसरू भी है.

अपने दो बेटे थाने में रहने के कारण राजाराम धुर्वे भयावह स्थिति में धनीराम उड़के के बड़े लड़के संतोष को लेकर थाने में पहुंचाता है. धुर्वे द्वारा थानेदार सुमेर सिंह से बात करने पर सुमेर सिंह यह बागियों से मिलने की बाद करता है. उसके दो दिन बाद अखबारों के प्रथम पृष्ठ पर खबर छपी है- 'पुलिस मुठभेड़ में पुलिस की गोलियों से दो बाग़ी मारे गए और पांच गिरफ्तार. समाचार में पुलिस के अदम्य साहस की प्रशंसा के साथ मुठभेड़ में पुलिस की गोलियों से मारे गए दोनों बाग़ियों के क्षत-विक्षत शवों की तस्वीर भी छपी थी. यह क्षत-विक्षत शव कोदूलाल और दसरु के थे."[५]

इस घटना के बाद की स्थिति बहुत भयंकर है. अंधेरी रात में सैकड़ों मानव आकृतियों द्वारा पुलिस थाने को घेर कर पूरा थाना जलाना मानो आदिवासी लोगों द्वारा अन्याय के खिलाफ विद्रोह की धधकती आग है. यह धधकता विद्रोह व्यवस्था के खिलाफ है. न जाने इस व्यवस्था ने कितने निरापराध दसरू और कोदूलाल की जिंदगी खत्म की है. इस विद्रोह की धधकती आग आदिवासी समाज में स्थित है.

निष्कर्ष:

आदिवासी समाज की बुनियाद जल,जंगल जमीन की लड़ाई पर टिकी हुई है. जल,जंगल जमीन ही आदिवासी जीवन के सहजीविता के प्रमुख माध्यम है. इसपर पूंजीवादी व्यवस्था के चलते पूंजीपतियों ने कब्ज़ा किया है. जो आदिवासियत के विरोध में है. आदिवासी समाज अक्सर नए-नए पूंजीवादी मॉडल के चलते हमेशा विस्थापित ही होता आया है. पूंजीवादी मॉडल का विरोध करने पर व्यवस्था ने उन्हें बाग़ी,नक्सलवादी तथा देशविरोधी और विकासविरोधी घोषित करते हुए सताया है. प्रस्तुत कहानी में कहानीकार द्वारा युवकों का अचानक लापता हो जाने का संकेत नक्सलवाद की तरफ है. नक्सलवाद का बीज आदिवासी ना होकर एक भ्रष्ट व्यवस्था है. जब तक इस व्यवस्था में उथल-पुतल न हो जायेगी तब तक विद्रोह की यह आग हमेशा धधकती रह जाएगी.

संदर्भ:

१.संपा. गुप्ता रमणिका, आदिवासी समाज और साहित्य, कल्याणी शिक्षा परिषद, नयी दिल्ली,प्रथम संस्करण:२०१५, पृ.१०-११
२.संपा. यादव राजेंद्र, 'हंस', अक्षर प्रकाशन, दिल्ली, अक्टूबर,२०१३, पृ.३३
३.वहीं,पृ.३४
४.शुक्ल विनोदकुमार, अतिरिक्त नहीं, वाणी प्रकशन, नयी दिल्ली, संस्करण:२०११, पृ.४१
५.संपा. यादव राजेंद्र, 'हंस', अक्षर प्रकाशन, दिल्ली, अक्टूबर,२०१३, पृ.३५